प्रथम अध्याय

समाज एवं सांस्कृतिक संचेतना

प्रथम अध्याय

समाज एवं सांस्कृतिक संचेतना

1.1 समाज

1.1.1 समाज शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ

1.1.2 समाज का अर्थ

1.1.3 समाज का स्वरूप

1.1.4 समाज की परिभाषा

1.2 संस्कृति

1.2.1 संस्कृति शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ

1.2.2 संस्कृति का अर्थ

1.2.3 संस्कृति का स्वरूप

1.2.4 संस्कृति की परिभाषा

1.3 चेतना

1.3.1 चेतना की परिभाषा

1.4 समाज में सांस्कृतिक संचेतना

1.5 सांस्कृतिक संचेतना के विभिन्न घटक

1.5.1 आश्रम व्यवस्था

1. ब्रह्मचर्याश्रम

2. गृहस्थाश्रम

3. वानप्रस्थाश्रम

4. संन्यासाश्रम

1.5.2 संस्कार

1. गर्भधान संस्कार

2. पुसवन संस्कार

3. सीमन्तोन्नयन संस्कार

4. जातकर्म संस्कार

5. नामकरण संस्कार

6. निष्क्रमण संस्कार

7. अन्नप्राशन संस्कार

8. चूडाकर्म संस्कार

9. कर्णवेध संस्कार

10. उपनयन संस्कार

11. वेदारम्भ संस्कार

12. समावर्त्तन संस्कार

13. विवाह संस्कार

14. वानप्रस्थ संस्कार

15. सन्यास संस्कार

16. अन्त्येष्टि संस्कार

1.5.3 धर्म

1.5.4 त्यौहार

1.5.5 खानपान

1.5.6 वेषभूषा

1.5.7 भाषा

1.5.6 सांस्कृतिक संचेतना के सामाजिक मूल्य

1.5.7 सांस्कृतिक संचेतना के धार्मिक मूल्य

अध्याय-1

समाज एवं सांस्कृतिक संचेतना

1.1 समाज

1.1.1 समाज शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ

"समाज शब्द 'सम्' 'उपसर्ग और 'अज्' धातु में 'धम' प्रत्यय लगाने से बनता है । 'सम्' का अर्थ है सम्यक रूप से तथा 'अज्' का अर्थ है जाना । साधारण बोलचाल में समाज शब्द का प्रयोग मनुष्य के समूह से माना जाता है।"[1]

1.1.2 समाज का अर्थ

'समाज' शब्द का अर्थ विभिन्न शब्दकोशों के आधार पर इस प्रकार दिया गया है ।

''भाषा शब्दकोश के अनुसार समाज का अर्थ 'समूह, सभा, समिति, दल, वृंद, संस्था, एक स्थल पर रहनेवाला समुदाय'''[2]

''बृहत हिन्दी कोश' में समाज का अर्थ मिलना, एकत्र होना, समूह, संघ, दल, सभा, समिति आदि से लिया जाता है ।''[3]

"द ऑक्सफोर्ड हिन्दी डिक्शनरी' में भी समाज शब्द का अर्थ (Social) और सभा (Association) से लिया गया है ।"[4]

इस प्रकार 'संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर' में भी समाज शब्द का अर्थ एवं व्याख्या करते हुए कृष्ण प्रसादजी ने लिखा है-

'समूह, गरोह, दल अर्थात् वह संस्था जो बहुत से लोगों ने मिलकर किसी विशिष्ट उद्देश्य से स्थापित की हो जैसे सभा, गरोह, दल ।'[5]

1.1.3 समाज का स्वरूप

'समाज' शब्द अत्यंत व्यापक प्रचलित और परिचित शब्द है । जो दैनिक बोलचाल में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है । कभी समाज का अर्थ महज एक झुण्ड या समूह से लिया जाता है और इस अर्थ में मानव समाज ही नहीं पशुओं के झुण्ड को पशु-समाज भी कहा जाता है, कभी समाज का अर्थ सिर्फ मानव-समाज से ही लिया जाता है ये मानव-समाज भी कभी व्यापक अर्थ यानि अपूर्ण मानव-समाज के अर्थ में प्रयुक्त होता है और कभी संकीर्ण अर्थ में मानव-समाज छोटे-छोटे समूहों में बटे होते हैं, जैसे आर्य समाज, ब्रह्म समाज, नारी समाज, बाल समाज आदि । इस प्रकार का समाज छोटे-छोटे विशेष समाज के रूप में जाना जाता है ।

1.1.4 समाज की परिभाषा

विभिन्न भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से 'समाज' शब्द को परिभाषित किया है जो निम्न प्रकार है ।

भारतीय विद्वानों की परिभाषाएँ

1. डॉ. सम्पूर्णानंद ने समाज की परिभाषा देते हुए लिखा है - ''समम् अजन्ति जनाः अस्मिन् इति' अर्थात् जिसमें लोग मिलकर, एक साथ, एक गति से, एक से चलें वही समाज है ।''[6]
2. डॉ. गीता दवे के शब्दों में ''समाज जड़ द्रव्यों का समूह मात्र नहीं वरन् मनुष्य को सांस्कृतिक संबंधों में बाँधनेवाला वह उदात्त तत्त्व है, जिससे नया आलोक भू पर उतरता है ।''[7]

डॉ. राम आहुजा के अनुसार ''समाज लोगों का एक समूह है जो किसी भौगोलिक क्षेत्र में निवास करता है, जिसकी एक निश्चित संस्कृति होती है, उनमें एकता की भावना होती है और स्वयं को एक विशिष्ट अस्तित्व के रूप में मानते हैं ।''[8]

"डॉ. विमल शंकर नागर के शब्दों में समाज सामाजिक संबंधों का पार्श्व है । मनुष्य की पारस्परिक क्रियाएँ, अंतःक्रियाएँ एवं प्रतिक्रियाएँ ही समाज का निर्माण एवं विकास करती है । इसके माध्यम से ही समाज की एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को उसके कल्याण के लिए अपने अनुभव हस्तांतरित करती है ।"[9]

पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषा

इयान राबर्टसन के अनुसार "समाज में अतः क्रियाएँ करने वाले व्यक्तियों का समूह है, जो एक ही भुखण्ड पर रहते हैं तथा जिनकी संस्कृति समान रहती है ।"[10]

टाल्कट पारसन्स लिखते हैं - "समाज को उन मानवीय संबंधों की पूर्ण जटिलता के रूप में परिभाषित किया जाता सकता है जो साधन और साध्य के द्वारा क्रिया करने से उत्पन्न होते हैं, चाहे वे यथार्थ हो या प्रतीकात्मक ।"[11]

क्युबर के अनुसार "समाज ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो काफी समय तक इकट्ठे रहने के कारण संगठित हो गये हैं तथा जो स्वयं को अन्य मानवीय इकाइयों से भिन्न इकाई समझते हैं ।"[12]

ट्यूटर के अनुसार "समाज एक अमूर्त धारणा है जो एक समूह के सदस्यों के बीच पाए जाने वाले आपसी सम्बन्धों की संपूर्णता का बोध कराती है ।''[13]

1.2 संस्कृति

1.2.1 संस्कृति शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ

'संस्कृति' संस्कृत भाषा का शब्द है । 'संस्कृत' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कार शब्द से हुई है । संस्कार सम् उपसर्ग 'कृ' धातु में धअ प्रत्यय लगने से बना है इसका मूल अर्थ है सुधरना या बहिष्कार करना ।''[14]

1.2.2 संस्कृति का अर्थ

संस्कृति का अर्थ विभिन्न शब्दकोशों में इस प्रकार दिया गया है ।

''पौराणिक सन्दर्भ कोश में संस्कृति शब्द का अर्थ पूरा करना, शुद्धि, परिष्कार, निर्माण, उद्योग, आचरणगत परम्परा, सभ्यता का वह रूप जो आध्यात्मिक एवं मानसिक वैशिष्ट्य का द्योतक होता है आदि अर्थों में लिया गया है ।''[15]

"हिन्दी शब्दकोश' में संस्कृति शब्द का अर्थ संस्कृत रूप देने की क्रिया परिष्कृत और संस्कार आदि रूपों में लिया गया है ।"[16]

"इसी प्रकार प्रामाणिक हिन्दी शब्दकोश में मन, रूचि, आचार-विचार, कला कौशल और सभ्यता के क्षेत्र में बौद्धिक विकास सूचक बातों से लिया गया है ।"[17]

"भाषा शब्दकोश में संस्कृति शब्द का अर्थ शुद्धि, सफाई, सुधार, संस्कार, सजावट, सभ्यता, परिष्कार आदि है ।"[18]

1.2.3 संस्कृति का स्वरूप

मानव सामाजिक प्राणी है । वह संस्कृति संपन्न है । संस्कृति मानव जीवन का एक कंपन है । संस्कृति एक परिवार है, उस परिवार का एक अंग है मनुष्य । वह सांस्कृतिक परिवार के साथ अपना जीवन व्यतीत करता है, उसमें खेलता है, नाचता है, कूदता है और जीवन की अनुभूतियाँ लेता है । अपना जीवन सुखी करने के लिए वह हमेशा प्रयत्नशील रहता है, यह प्रयत्न की गति ही संस्कार नाम का आकार लेती है और संस्कृति का सृजन होता है । इन संस्कारों का लेखा जोखा है संस्कृति । वास्तव में संस्कृति मनुष्य और उसकी कृतियों के प्रत्येक अंग और स्वरूप का ही संतुलन है ।

1.2.4 संस्कृति की परिभाषा

संस्कृति शब्द की परिभाषा को विभिन्न भारतीय एवं पाश्चात्य 'विद्वानों' ने अपने-अपने ढंग से परिभाषित किया है, जो निम्नलिखित है ।

भारतीय विद्वानों की परिभाषाएँ

"डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल जी संस्कृति का संबंध राष्ट्र सृजन से मानते हुए कहते हैं, विचार विमर्श और धर्म के क्षेत्र में राष्ट्र का जो सृजन है वही संस्कृति है ।"[19]

"डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी जी संस्कृति को मनुष्य के विविध साधनों की सर्वोत्तम परिणति मानते हैं ।"[20]

डॉ. राधाकृष्ण ने विवेकशीलता के आधार पर जीवन का संबंध स्थापित करते हुए संस्कृति की परिभाषा की है कि - "संस्कृति विवेकबुद्धि से जीवन को भली प्रकार जान लेने का नाम है ।"[21]

रामधारी सिंह दिनकर संस्कृति को जीवन जीने का एक तरीका मानते हुए कहते हैं - "संसार भर में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गयी, उनसे अपने-आपको परिचित करना संस्कृति है । संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढिकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था है। यह मन, आचार अथवा रुचियों की परिष्कृति या शुद्धि है ।'[22]

पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषाएँ

कूम के अनुसार "संस्कृति उन तरीकों का कुल योग है जिनके द्वारा मनुष्य अपना जीवन व्यतीत करते हैं । जो सीखने की प्रक्रिया द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होता है ।"[23]

''हॉटन एवं हण्ट' ने संस्कृति को वह सब जो समाज में रहकर सीखा जाता है तथा समाज के सदस्यों द्वारा जिसका अनुसरण किया जाता है के रूप में परिभाषित किया है ।'' [24]

''ए. एफ. वाल्टर पाल के अनुसार संस्कृति लोगों के समूह द्वारा स्वीकृत एवं अनुसरित विचार एवं क्रिया के सामूहिक ढंगों का योग है ।''[25]

"टायलर के अनुसार संस्कृति एक ऐसा जटिल समग्र है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, कानून, प्रथा एवं समाज के सदस्य के रूप में मनुष्य द्वारा अर्जित अन्य दूसरी समर्थताएँ सम्मिलित है ।"[26]

"मैकाइवर के अनुसार संस्कृति हमारे जीवन क्रमों, चिन्तन-पद्धतियों दैनिक सम्पर्कों, कला, साहित्य, धर्म, मनोरंजन, विनोद आदि में हमारी प्रकृति की ही अभिव्यक्ति है ।"[27]

इस प्रकार 'संस्कृति' की कोई निश्चित परिभाषा नहीं है । इसे हम मानव को अति व्यवस्थित एवं विकसित करने वाली सैद्धान्तिक प्रक्रिया मान सकते हैं जिसके अन्तर्गत मनुष्य के काम करने का तरीका, सोच-विचार, समझ और रहन-सहन के तौर तरीके आते हैं जिनको मानव अपने आनेवाली पीढ़ी को सौंपता रहता है और जो समाज से स्वीकृत होती है ।

1.3 चेतना

'चेतना' अत्यंत व्यापक शब्द है । इसे 'बोध' या 'चैत्य' के समानार्थ के रूप में भी ग्रहण किया जा सकता है । ''चेतना' शब्द की व्युत्पत्ति चित धातु

'ल्युट' प्रत्यय लगाकर हुई है । जिसका अर्थ बुद्धि, मनोवृत्ति, ज्ञानात्मक मनोवृत्ति, स्मृति, जागृति सूधि आदि है ।"[28]

1.3.1 चेतना की परिभाषा

चेतना को परिभाषित करते हुए डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है - ''चेतन' मानस की प्रमुख विशेषता चेतना है । अर्थात् वस्तुओं, विषयों व व्यवहारों का ज्ञान । चेतना का प्रभाव हमारे अनुभव वैचित्र्य से प्रमाणित होता है और चेतना की अविच्छिन्न एकता हमारे व्यक्तिगत तादात्म्य के अनुभव से ।"[29]

डॉ. लाल साहब के शब्दों में ''चेतना स्वयं को और अपने आस-पास के वातावरण को समझने तथा उसकी बातों का मूल्यांकन करने की शक्ति का नाम है ।''[30]

रामचन्द्र वर्मा जी ने चेतना के संबंध में लिखा है - ''चेतना जीव या प्राणी के अन्त-बाह्य तत्वों या बातों का अनुभव या ज्ञान कराती है ।''[31]

अतः चेतना के संबंध में कहा जा सकता है कि मनुष्य को सुख-दुःख, इच्छा, राग, द्वेष आदि से संबंधित अनुभूति चेतना के प्रवाह के माध्यम से होती है चेतना के द्वारा ही मनुष्य किसी क्रिया विशेष को तथा विचारों को व्यक्त करता है । चेतना के बिना मनुष्य मृत के समान है । चेतना से ही हमारा जीवन गतिशील एवं विकासशील करने की शक्ति लेता है । जागरुकता लाने में और संकल्प लेने में चेतना की अहम भूमिका होती है । जिससे मनुष्य के सारे कार्य संपूर्ण होते हैं ।

1.4 समाज में सांस्कृतिक संचेतना

जैसा की हमने पूर्व ही बताया कि 'संस्कृति' शब्द में 'इक' प्रत्यय के लगने से 'सांस्कृतिक' शब्द बनता है, जिसका तात्पर्य है 'संस्कृति संबंधी' और 'चेतना' शब्द तात्पर्य है बोध, सुध, ज्ञान आदि । अतः अपनी संस्कृति से संबंधित सभी बातों, तत्वों को जानना, पहचानना, समझना और उसे व्यवहार में उतार कर संस्कारों को पोषित करना ही सांस्कृतिक चेतना है ।

आदिम व्यवस्था में मनुष्य व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों ही रूपों में संस्कारहीन रहा है परंतु धीरे-धीरे समय के साथ उसे गलत और सही का ज्ञात हुआ और सही का विकास करके उसने अपने को सुसंस्कृत बनाया । क्योंकि संस्कृति मनुष्य को शारीरिक अंगों के समान जन्म के माध्यम से प्राप्त नहीं हुई है । मनुष्य ने अपने प्रयत्नों से संस्कृति के प्रत्येक भागों का निर्माण किया है । उसने अपनी शारीरिक एवं बौद्धिक प्रतिभाओं का उपयोग करके और समाज में सामूहिक पारस्परिक सहयोग से अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल संस्कृति का निर्माण किया है । क्योंकि ''प्रकृति ने मनुष्य को अन्य प्राणियों से भिन्न अनेक मौलिक शारीरिक और बौद्धिक विशेषताएँ दी है इन विशेषताओं के कारण ही मनुष्य संस्कृति का निर्माण कर सका है, पशु नहीं ।''[32]

मनुष्य ने मानव विकास के साथ जो कुछ भी व्यवहार सिखा वह संस्कृति बन गई । संस्कृति का निर्माण दस-बीस या सौ वर्षों में नहीं होता । अर्थात् संस्कृति का निर्माण समाज के सुदीर्घ प्रयत्नों का इतिहास होता है । संस्कृति

एक व्यक्ति से दूसरी व्यक्ति और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती रहती है । संस्कृति के हस्तान्तशीलता के कारण ही सदियों से प्रयोग में लाई जाने वाली भाषा, नियम, विचार, व्यवहार आदि का निरन्तर प्रयोग हो रहा है । पूर्वजों द्वारा संगृहीत किया ज्ञान पीढ़ी-दर-पीढ़ी न केवल हस्तान्तरित हो रहा है बल्कि इसमें हर पीढ़ी अपने से पूर्व पीढ़ी के अनुभव का लाभ उठाकर संस्कृति के प्रचार-प्रसार और विकास में सहयोग देती है और इस प्रकार सांस्कृतिक गति बनती है, यह प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है ।

बच्चा अपनी संस्कृति से ही सीखता है कि परिवार, समूह, पड़ोस, स्कूल, धार्मिक संस्थाओं आदि में उसे किस प्रकार व्यवहार करना है । उसकी भूमिका अलग-अलग व्यक्तियों के साथ अलग होती है परिवार के साथ दूसरे प्रकार का व्यवहार होता है तथा पड़ोसीयों, स्कूल के व्यक्तियों के साथ दूसरे प्रकार का । क्योंकि हमारी संस्कृति ही हमें यह सिखाती हैं कि हमें किसके साथ किस प्रकार बातचीत करनी चाहिए, कैसे खाना-पीना चाहिए, कैसे उठना-बैठना चाहिए, किस प्रकार के वस्त्र पहनने चाहिए और किससे किस प्रकार का परिवार में तथा समाज में व्यवहार करना चाहिए । संस्कृति के आधार पर ही व्यक्ति बड़ों का आदर-सम्मान, छोटों को प्यार, सलाह, ज्ञान, पड़ोसियों के साथ सामाजिकता का व्यवहार प्रदान करता हैं । जैसे-जैसे बच्चा बड़ा होता है उसी प्रकार समय के साथ-साथ उसमें परिवर्तन होता रहता है । उसमें संबंधों को बनाये रखने की क्षमता का विकास होता हैं और एक अवस्था में वह सामाजिक परिपक्वता को प्राप्त करता है । इस संबंध में प्रेसी तथा जैनी ने लिखा है -

"सबसे अधिक प्रभावशाली या सबसे अधिक विशिष्ट उन विभिन्न प्रकार के वातावरणों में जिनमें कि मनुष्य रहते हैं और विकसित होते हैं वह घर, शहर या जलवायु या भौतिक वातावरण नहीं है, किंतु यह व्यक्ति का सांस्कृतिक वातावरण ही है जिसमें कि व्यक्ति उपस्थिति रहता है । इस प्रकार यह पता चलता है कि मानव व्यक्तित्व के निर्माण में संस्कृति का बहुत बड़ा योगदान है ।"[33]

सच कहा जाए तो संस्कृति ही विभिन्न प्रकार की सांस्कृतिक जानकारियों के द्वारा व्यक्ति के व्यक्तित्व में सांस्कृतिक चेतना एवं सांस्कृतिक जागरूकता पैदा करती है और उसके व्यक्तित्व का विकास करती है। यदि किसी व्यक्ति या समाज की कोई संस्कृति ही ना हो तो वह व्यक्ति या समाज सही तरीके से अपना जीवन निर्वाह नहीं कर सकता है । क्योंकि संस्कृति के अभाव में व्यक्ति या समाज पशुवत होता है । यह संस्कृति ही है जो मानव के पशुवत व्यवहार को भी सुसंस्कृत कर उसे संस्कारों से भर देती है।

भारतीय संस्कृति मानव जीवन की अमूल्य धरोहर है । अपनी गौरवमयी सांस्कृतिक परंपरा के कारण ही हजारों वर्षों तक पराजित रहने के बाद भी भारतीय संस्कृति ने अपनी नींव को बनाये रखा और वह विलुप्त नहीं हुई । समाज में सांस्कृतिक संचेतना बनाये रखने में अनेक संस्थापकों, समाज सुधारकों ने अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया हैं । इनके अथक् परिश्रमों के फलस्वरूप आज अनेक नये नियम कानूनों द्वारा समाज में व्याप्त अनावश्यक

सामाजिक कुप्रथाओं पर प्रतिबंध लगाकर स्त्रियों की निर्योग्यताओं को दूर किया गया हैं । उन्हें पुरूषों के समान अधिकार भी दिए गए । जिससे समाज में नवीन सांस्कृतिक परिवर्तन आये, खास करके स्त्रियों की स्थिति में ।

राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज की स्थापना की और उनके प्रयत्नों से 1829 सती प्रथा, कानून द्वारा बंद करा दी गई । स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी आर्य समाज की स्थापना की और उनके प्रयत्नों ने बाल-विवाह, पर्दा प्रथा जैसे प्रथाओं को समाप्त किया । तत्पश्चात् स्त्रीओं को शिक्षा के लिए प्रोत्साहित करने का प्रयत्न भी किया । विद्यासागर ने भी बहुपत्नी विवाह का विरोध और विधवा पुनर्विवाह का समर्थन किया ।

''आपके अथक् प्रयत्नों के फलस्वरूप सन् 1856 में 'विधवा-पुनर्विवाह अधिनियम' पारित किया गया । अधिनियम अवश्य पारित हो गया, लेकिन विधवाओं के प्रति लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन आने में करीब सौ वर्ष लग गए । केशवचन्द्र के प्रयासों के कारण 1872 में 'विशेष विवाह अधिनियम' पास हुआ, जिसके द्वारा लड़कियों के विवाह की आयु चौदह वर्ष, अन्तर्जातीय विवाह एवं विधवा-पुनर्विवाह को कानूनी मान्यता तथा एक विवाह की प्रथा का आवश्यक कर दिया गया । सन् 1974 में कानून द्वारा स्त्री-धन के क्षेत्र को विस्तारित किया गया और स्त्री द्वारा अर्जित किए गए धन पर उसका अधिकार मान लिया गया ।''[34]

अतः स्पष्ट है कि 19वीं शताब्दी में स्त्रियों की स्थिति में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन आये हैं जब हम 18वीं शताब्दी की स्त्रियों की स्थिति पर विचार करें तो देखते हैं कि उस समय धर्म के नाम पर विधवाओं को जिन्दा अपने पति के मृत शरीर के साथ सती होना पड़ता था, बहुत-सी कन्याओं को जन्म होते ही मार दिया जाता था, बाल विधवाओं को पुनर्विवाह का अधिकार नहीं था । जबकि पुरूष अनेक स्त्रियों से विवाह कर सकता था ।

आज वर्तमान समय में स्त्रियों में काफी सामाजिक एवं सांस्कृतिक संचेतना आ चुकी हैं । वह पर्दे में सिमटी हुई अपने आपको घर की चारदिवारी में बन्द नहीं रखती बल्कि आज की भारतीय नारियाँ समाज कल्याण, महिला मण्डलों के निर्माण, क्लबों, राजनीतिक क्षेत्र आदि में भी आगे आने लगी है ।

संस्कृति गतिशील होती है । समय समय पर आवश्यकता के अनुसार उसमें बदलाव आते रहते हैं और इसका मापदंड भी बदलता रहता है । उदाहरणस्वरूप मुगल या गुप्तकाल में जो संस्कृति थी वह संस्कृति आज के वर्तमान समय में नहीं है । उनमें समय के अनुसार लोगों के खान-पान, बोल-चाल, पहेरवेश आदि में अनेक एवं विभिन्न परिवर्तन हुए ।

इस संबंध में डॉ. पी. डी. मिश्र के मतानुसार -

‘‘आवश्यकता आविष्कार की जननी है । सभी प्रकार के विकास तथा अन्वेषण व्यक्ति केवल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए करता हैं । सामाजिक तथा जन्मजात आवश्यकताएँ संस्कृति को निर्मित करने में महत्वपूर्ण

भूमिका निभाती हैं यदि संस्कृति का कोई अंग आवश्यकता की पूर्ति नहीं करता है तो उसको बदल दिया जाता है।''[35]

रवीन्द्रनाथ मुकर्जी ने भी इस संबंध में लिखा है -

''संस्कृति एक गतिशील अवधारणा है । प्रत्येक समय या युग में इसका रूप या स्वरूप एक समान नहीं रहता बल्कि ऐतिहासिक विकास के दौरान में अर्थात् समय परिवर्तन के साथ-साथ संस्कृति में परिवर्तन और परिवर्द्धन होता रहता हैं जिसके फलस्वरूप एक संस्कृति में अनेक नये तत्त्व जुड़ते हैं, अनेक पुराने तत्वों में तत्वों में परिवर्तन होता हैं और कुछ तत्त्वों का अन्त भी होता हैं ।''[36]

भारतीय संस्कृति प्राचीन संस्कृति है, जो सदियों से चली आ रही हैं । परंतु समय के साथ-साथ समाज में बहुत सी सामाजिक कुरीतियाँ और बुराईयाँ चल पड़ती हैं जिन्हें आसानी से बदला नहीं जा सकता । समाज में अपराध, कुरीतियाँ तथा जो समाज में सामुहिक इच्छा का उल्लंघन करते हैं उन पर प्रतिबंध लगाने के लिए समाज में कानून व्यवस्था लायी गई है । जिसके परिणाम स्वरूप समाज में सामाजिक नियंत्रण बना रहता है और समाज में संस्कृति की रक्षा होती है । क्योंकि कानून प्रथाओं की रक्षा करने में भी अपनी अहम भूमिका अदा करता हैं । कानून के द्वारा वे कार्य किए जाते हैं जो कार्य प्रथाओं के माध्यम से होते हैं । कानून एक प्रकार से प्रथाओं का ही रूप हैं ।

वेस्टरमार्क के अनुसार -

''कानूनों का पालन प्रायः इसलिए अधिक होता है कि वे एक प्रकार की प्रथाएँ होती हैं, न कि इसलिए कि वे कानून होते हैं ।''[37]

"कानून' राज्य के सदस्यों के लिए व्यवहार का वह नियम है जिसका कि अनादर करने पर दण्ड मिलता है और जो कि राज्य की शक्ति से संबंधित संस्थाओं द्वारा लागू किया जाता है ।''[38]

समाज में सामाजिक एवं सांस्कृतिक लोक व्यवहार को नियंत्रण करने के लिए राज्य सरकार कानून का निर्माण करती है । 'कानून' का पालन करना प्रत्येक नागरिकों के लिए अनिवार्य हैं । कानून व्यवस्था से ही हर वर्ग जाति, धर्म, क्षेत्र एवं संप्रदायों को समान जीवन व्यतीत करने का अधिकार मिलता हैं। साथ में सुरक्षा भी मिलती है ।

''वास्तव में भारतीय संविधान द्वारा जो दो नवीन धाराएँ स्वीकार की गई हैं, उनका परिणाम भारतीय लोकजीवन का स्तर ऊँचा उठाने में बहुत अधिक होगा । पहली धारा में कहा गया है, देश में प्रचलित किसी भी प्रकार की अस्पृश्यता उठा दी जायेगी । अस्पृश्य होने के कारण किसी व्यक्ति पर किसी भी तरह की अयोग्यता का आरोप नहीं किया जा सकेगा । ऐसा करना भविष्य में गैरकानूनी माना जायेगा । दूसरी धारा में कहा गया हैं, इस देश के किसी भी नागरिक के साथ, धर्म जाति, वर्ण, जन्म, स्थान, उसका पुरूष या स्त्री होना आदि कारण किसी भी प्रकार का भेद-विभेद का व्यवहार नहीं किया जाएगा ।''[39]

संस्कृति संरक्षण में प्रथाओं का भी अत्यधिक महत्त्व हैं । यह व्यक्ति के व्यवहारों को काफी हद तक नियंत्रित करती हैं । इसके पीछे कोई कानूनी शक्ति नहीं होती फिर भी व्यक्ति सामाजिक निन्दा के डर से प्रथाओं का उल्लंघन करने में कतराता हैं । क्योंकि प्रथाएँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती हैं । वह हमारे पूर्वजों का सफल अनुभव होती हैं । इसलिए नए व्यवहारों को करने में मनुष्य को हिचकिचाहट तथा यह डर रहता हैं कि इनका उल्लंघन करना यानी पूर्वजों का अपमान करने के बराबर हैं । मैकाईवर तथा पेज के अनुसार - "प्रथा एक सामूहिक कार्यविधि (Group Procedure) है, जो बिना प्रत्यक्ष अधिनियम के, बिना किसी संगठित सत्ता द्वारा घोषणा किए हुए, लागू किए हुए अथवा रक्षा किए हुए क्रमशः उदित हुई है, प्रथा सामान्य संस्कृति द्वारा सुरक्षित रखी जाती है ।"[40]

प्रथाओं के संबंधमें गिन्सबर्ग ने कहा हैं कि -

"प्रथाएँ हमारे जीवन में वही काम करती है जो प्राणियों में मूल प्रवृत्तियाँ करती हैं । प्रथाएँ सामाजिक जीवन में मनुष्यों को मार्ग दिखाने का काम करती है । चूँकि प्रथाएँ समाज में प्रारंभ से चली आ रही होती है । इसलिए प्रत्येक व्यक्ति इसका श्रद्धापूर्वक पालन करता है ।"[41]

1.5 सांस्कृतिक संचेतना के विभिन्न घटक

1.5.1 आश्रम व्यवस्था

प्राचीन भारत में आश्रम व्यवस्था को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था । इस संबंध में डॉ. श्रीकृष्ण ओझा लिखते हैं -

"आश्रम व्यवस्था अपने-अपने कर्तव्यों और अधिकारों के विभेदों द्वारा सामाजिक संघर्षों में अथवा वैयक्तिक उन्नति को अवाध गति द्वारा निरन्तर चलाते रहने में न केवल समाज को अपितु राष्ट्र को भी पूर्ण सहयोग देती हुई, विश्व में शान्ति स्थापित व असीम सुख का उपभोग कराने वाली एकमात्र सुन्दर व्यवस्था है ।"[42]

प्राचीन भारत में लोगों का मानना था कि मनुष्य की आयु लगभग 100 वर्ष की होती है इन सौ वर्षों के जीवन को चार बराबर भागों में विभाजित किया गया हैं - ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास । मनुष्य की आयु 100 वर्ष मानते हुए, प्रत्येक आश्रम के लिए 25 वर्ष रखे गए थे जिसका परिचय निम्न दिया गया है ।

1. ब्रह्मचर्याश्रम

यह मनुष्य का बहुत ही महत्वपूर्ण अंग है । इन प्रथम 25 वर्षों में प्रत्येक व्यक्ति को ब्रह्मचर्य - आश्रम के नियमों का पालन करते हुए गुरू के पास जाकर विद्याभ्यास करना होता था । ब्रह्मचर्य को आश्रम के सभी दायित्वों को पूर्ण करने के बाद ब्रह्मचारी गुरू को दक्षिणा चुकाकर उसकी आज्ञा से अपने घर लौट जाते थे ।

2. गृहस्थाश्रम

यह दूसरा आश्रम है । जिसमें मनुष्य को 25 वर्ष तक ब्रह्मचारी रहने के बाद प्रवेश करना होता है । यह जीवन का वह भाग है जिसका प्रारम्भ विवाह-संस्कार होकर वानप्रस्थ आश्रम के पूर्व तक बना रहता है । मनुष्य विवाहित जीवन में संतान उत्पन्न कर उनका लालन पोषण कर, संयम, नैतिकता, सामाजिक मर्यादा, आदि का पाठ पढ़ता था । प्राचीन काल से ही इस आश्रम को बहुत उत्तरदायित्वपूर्ण माना गया है । मनु ने इस आश्रम की श्रेष्ठता बतलाते हुए लिखा है -

"यस्मातप्रयोडप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।

गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ।।"[43]

अर्थात् गृहस्थ प्रतिदिन ज्ञान और अन्न से तीनों आश्रम के लोगों का भरण-पोषण करता हैं , अतः गृहस्थाश्रम सर्वश्रेष्ठ है ।

अतः इस आश्रम में मनुष्य के जीवन का पूर्ण विकास होता है ।

3. वानप्रस्थ आश्रम

'वन की ओर प्रस्थान करना' वानप्रस्थ आश्रम कहलाता है । गृहस्थाश्रम के दायित्वों को पूर्ण कर मनुष्य वान प्रस्थाश्रम में प्रवेश करता हैं । प्राचीन काल में इस आश्रम में व्यक्ति का जीवन त्याग और तपस्या का होता था । व्यक्ति गाँव के अथवा नगर के बहार में कुटीया बनाकर निवास करता और कंदमूल खाकर जीवन निर्वाह करता था । इस संबंध में मनु की मान्यता है कि "जब व्यक्ति के सिर के बाल श्वेत होने लगें, शरीर पर झुर्रियाँ पड़ने लगें और

उसके पौत्र हो जायें तब वह वानप्रस्थ होकर जंगल की ओर चल दे । वह अकेला या पत्नी के साथ वानप्रस्थाश्रम में जा सकता है उसे ग्राम आहार (धान, पेय आदि ग्राम सुलभ भोजन) तथा परिच्छेद (गो, घोड़ा, हाथी, शैया आदि गृह सम्पत्ति) को त्याग कर वन में जाने की इच्छा न करने वाली पत्नी को पुत्रों के उत्तरदायित्व में सौंप कर अथवा वन में साथ जाने वाली पत्नी को साथ में लेकर वन की ओर प्रस्थान करना चाहिए ।"[44]

इस आश्रम में व्यक्ति वेदों को अध्ययन तथा यज्ञ करने कराने का विधान होता हैं । शिष्य उनसे निःशुल्क शिक्षा ग्रहण करता है । इस तरह, वानप्रस्थों के निःस्वार्थ भाव से किए गए कार्य सामाजिक अभ्युदय के कारण बनते थे । इस प्रकार व्यक्ति तप और तत्वज्ञान के द्वारा वानप्रस्थ ब्रह्म में लीन हो जाने की इच्छा करता था और उसके उपरान्त संन्यास ले लेता था । संन्यास आश्रम वानप्रस्थ का विकसित रूप है । दोनों आश्रमों की जीवन की रूपरेखा बहुत कुछ समान होती हैं । आगे चलकर वानप्रस्थ आश्रम का संन्यास आश्रम में ही समन्वय हो गया है ।

4. संन्यास आश्रम

यह जीवन का अंतिम आश्रम है । उपर्युक्त तीनों आश्रमों में व्यक्ति तीनों ऋणों देव ऋण, पितृ ऋण और ऋषि ऋण को चुका देता हैं । अतः चौथे आश्रम में वह सभी कर्मों का परित्याग कर मोक्ष प्राप्ति की ओर उन्मुख होता हैं । गहन चिन्तन द्वारा संन्यासी आत्मा और परमात्मा के गूढ़ रहस्यों को खोजने

में लगा रहता हैं । "संन्यास के दो रूप हैं यति संन्यास और कर्म योग। यति संन्यास में सभी कर्मों को छोड़कर केवल आध्यात्मिक अभ्दुय के लिए ब्रह्म विषयक चिन्तन का विधान हैं और कर्म योग में लोग संग्रह और लोक कल्याण के लिये सदैव कर्म करते रहना आवश्यक है । संन्यास के लिये यह नियमित विधान था कि मनुष्य अपना सर्वस्व त्याग (न्यास) दे । इसी सम्यक् न्यास के कारण इस आश्रम को संन्यास कहते हैं ।"[45]

इस अवस्था में व्यक्ति के अपने सभी सांसारिक बंधन टूट जाते हैं और व्यक्ति अपना सर्वस्व त्याग कर भिक्षु या परिव्राजक के रूप में दण्डकमण्डल धारण करके विचरण करता है । जहाँ भी संध्या हो जाती व्यक्ति वहीं स्थान पर वृक्ष के नीचे अपना निर्जन घर में रात बिता लेता है । केवल वर्षा-काल में वह एक स्थान पर रह सकता है । भ्रमण करते समय व्यक्ति का अकेला रहना आवश्यक होता है ।

उपर्युक्त आश्रमों को जीवन का परम उद्देश्य जानने वाले उच्च कोटि के कुछ विद्वान ही अपना पाते थे । किसी भी युग में सारा भारत निरपवाद रूप से इन आश्रमों को सार्वजनिक नहीं बना सका । ब्रह्मचर्याश्रम और गृहस्थाश्रम तो किसी न किसी रूप में सदैव प्रतिष्ठित रहे हैं और आज भी हैं, पर वानप्रस्थ में जीवन की कठोरता को वे ही लोग सहने के लिए उद्यत हो सके हैं, जिन्हें वास्तव में विराग हो गया है ।"[46]

1.5.2 संस्कार

मनुष्य के जीवन को जिस प्रकार चार आश्रमों में बांटा गया हैं, ठीक उसी प्रकार उसके शरीर और मन के पूर्ण विकास और शुद्धि के लिए संस्कार बताये गये हैं । संस्कारों की संख्या में मतभेद है - "गृह्य सूत्रों के अनुसार संस्कार लगभग चालीस है । जबकि धर्मसूत्र के अनुसार संस्कार अड़तालीस है । एक मत के अनुसार संस्कार सोलह है जबकि मनु के अनुसार संस्कार बारह है।"[47]

परंतु साधारणतः सोलह संस्कारों को ही प्रमुख माना जाता हैं । मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में संस्कारों का सर्वप्रथम स्थान हैं । हमारी भारतीय विचारधारा में सदा से ही विश्वास रहा है कि मनोविचारों का प्रभाव मनुष्य की कार्य करने की प्रवृत्ति और शक्ति पर पड़ता है । इस प्रकार संस्कार भविष्य के लिए प्रगति का संदेश देते हैं और उत्साह बढ़ाते हैं । मनुष्य की सांसारिक उन्नति तथा मोक्ष के लिए पूरी तरह समर्थ बनाना संस्कारों का मुख्य उद्देश्य है। भारतीय शास्त्रों की मान्यता है कि "संस्कार ही मनुष्य के शरीर व मन को विशुद्ध करते हैं और उस आत्मा के निवास के योग्य बनाते हैं । इनका हिन्दू समाज में बड़ा महत्त्व है ।" [48]

मनुस्मृति में मनु ने संस्कारयुक्त मनुष्य को ही मानव धर्मशास्त्र का अधिकारी बतलाया है । वे लिखते हैं -

"निषेकादि श्मशानान्तो मंत्रैर्यस्योदितो विधिः ।

तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिऽसेयो नान्यस्य कस्यचित ।।" (मनु.2.16)[49]

अर्थात् जिस (वर्ण) की गर्भ संस्कार से लेकर मरण तक की विधि वैदिक मंत्रों से कही है उसी का इस शास्त्र में अधिकार जानना चाहिए और का नहीं ।

उपर्युक्त श्लोक में निषेध का अर्थ गर्भधान बतलाया गया है और श्मशान कर्म ही अन्तिम अंत्येष्टित संस्कार है । इस प्रकार आदि से लेकर अंत तक सोलह संस्कारों से संस्कारित व्यक्ति को ही मनु ने शास्त्राधिकारी बतलाया है । सारांश में सामाजिक एवं मानवीय गुणों के विकास में संस्कार बहुत उपयोगी होते हैं । इन सोलह संस्कारों का परिचय निम्नलिखित हैं ।

1 गर्भधान संस्कार

मानव जीवन का यह सर्वप्रथम संस्कार है । इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है -

"गर्भस्याडडधानं वीर्यस्थापनं स्थिरीकरणं

यास्मिन्येन वा कर्मणा तद् गर्भाधानम् ।।"[50]

अर्थात् गर्भ का धारण अथवा वीर्य का स्थापन-गर्भाशय में स्थिर करना, जिस क्रिया से होता है उसी को गर्भधान करते है ।

गर्भधान संस्कार द्वारा पति-पत्नी अच्छी सन्तान प्राप्ति की कामना करते हैं । नए प्राणी के गर्भ में आने के लिए यह संस्कार शुभ दिन पर किया जाता है और पति-पत्नी संबंध स्थापित किया जाता है । इस संस्कार के आरम्भ में वैदिक मन्त्रों के द्वारा हवन करके देवताओं का आह्वान किया जाता हैं और उनसे यह प्रार्थना करते हैं कि वे माता के गर्भ में योग्य संतान धारण करा दे ।

2 पुंसवन संस्कार

यह संस्कार पत्नी के गर्भधारण के बाद तीसरे महीने में किया जाता हैं। कुछ धर्मशास्त्रों में यह संस्कार तीसरे या चौथे महीने में करने की बात की गई हैं ।

"व्यक्त गर्भे द्वितीये तु मासे पुंसवन भवेत् ।

गर्भेडव्यक्ते तृतीर्य चतुर्थे मासि वा भवेत् ।।"[51]

अर्थात् पुंसवन संस्कार गर्भ स्थापित होने के पश्चात् दूसरे महीने में किया जाना चाहिए । यदि गर्भ का लक्षण अव्यक्त हो तो तीसरे या चौथे मास में सम्पन्न करे ।

इसका उद्देश्य गर्भ में स्थित शिशु को रूप देना होता है । इस संस्कार में देवता की प्रार्थना स्तुति कर के उनसे पुत्र प्राप्ति की मनोकामना की जाती थी।

3 सीमन्तोन्नयन संस्कार

"सीमन्तउन्नीयते यस्मिन कर्मणि तत्

सीमन्तोन्नयनम् इति कर्मणि नामधेयम्" [52]

अर्थात् जिस कृत्य में गर्भवती स्त्री के सीमन्त (बालों) को उन्नयन किया (ऊपर उठाया) जाता है, उसे सीमन्तोन्नयन कहते हैं ।

यह संस्कार गर्भवती स्त्री को अमंगलकारी शक्तियों से बचाने के लिए आठवें महीने में किया जाता हैं । इस संस्कार में पति द्वारा पत्नी के बालों को

सजाकर उसकी माँग भरी जाती हैं और इसमें उत्तम स्त्रियाँ गर्भिणी को श्रेष्ठ एवं वीर सन्तान का प्रसव करने का आशीर्वाद देती हैं। इस संस्कार का उद्देश्य गर्भवती के उल्लास को बढ़ाना तथा उसे अत्यधिक श्रम न कर उसे मानसिक और शारीरिक आराम देना होता हैं ।

4 जात कर्म संस्कार

यह संस्कार शिशु के जन्म होने पर किया जाता है । इस संस्कार में शिशु के उत्पन्न होने के बाद उसे वस्त्र से शुद्ध करके पिता की गोद में दिया जाता है और पिता यज्ञ देवता के पास जाकर मंत्रों का उच्चार करते हुए उसे सोने के शलाका या सलाह से दूध, दही, मध का मिश्रण चटाता हैं और बच्चे को दीर्घ आयु का आशीर्वाद देता हैं ।

5 नामकरण संस्कार

यह संस्कार बच्चे के जन्म बाद दशवें या ग्यारहवें दिन पर किया जाता हैं । इसमें शिशु का पिता ही दो चार अक्षरों का सुन्दर नाम रखता हैं । शास्त्रों में भी इसका उल्लेख इस प्रकार है -

"दशभ्यामुत्थाप्यषिता का नाम करोति ।" (पार.गृ.1/17/1)

अर्थात् पिता ही बालक का ग्यारहवें दिन सुन्दर नाम रखे ।"[53]

इसके अतिरिक्त गृह शुद्धि के लिए हवन भी किया जाता है ।

6 निष्क्रमण संस्कार

जन्म के चौथे महीने में शिशु को पहली बार घर से बाहर निकालने की क्रिया को निष्क्रमण संस्कार कहते हैं । इसमें घर से बाहर के अनेक प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक संकटों से शिशु की रक्षा करने के लिए देवताओं का अर्चन तथा सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता हैं । शास्त्रों में इस प्रकार बताया गया हैं -

"चतुर्थे मासि निष्क्रमणणिका

सूर्य मूदांक्षयति तच्चक्षुरिति ।" (पार-1/17/5, 6)[54]

अर्थात् इस संस्कार में शिशू को स्नान करवाकर तथा सुन्दर वस्त्र पहनाकर यज्ञदेवी के पास लाया जाता है और यज्ञ तथा हवन आदि करने के बाद थोड़ा सा बाहर शुद्ध वायु में भ्रमण कराया जाता हैं तथा दिन में सूर्य एवं रात्रि में चन्द्रमा के दर्शन कराये जाते हैं ।

7 अन्नप्राशन संस्कार

शिशु को छः महीने का होने के बाद प्रथम बार आहार देने की क्रिया को अन्नप्राशन संस्कार कहते हैं । शास्त्रों में लिखा हैं -

"षष्ठे मास्यन्नप्राशनम् ।।1।। धृतौदन तेजस्कामः ।।2।।

दधिमधुघृतमिश्रितमन्नं प्राश्येत् ।" (आश्व. 1/16/1-3।।)[55]

अर्थात् इस संस्कार में बालक को धृतयुक्त चावल, दही, शहद और घी तीनों को चावल के साथ मिलाकर खिलाया जाता हैं ।

इस संस्कार का उद्देश्य यह है कि शिशु से माता का स्तन छुड़ा दिया जाये और माता के दूध के स्थान पर उसके लिए किसी अन्य खाद्य पदार्थ की व्यवस्था की जाय ।

8 चूड़ाकर्म संस्कार

इसे केशच्छेदन संस्कार भी कहते हैं । चूड़ाकर्म अथवा चौल संस्कार को आजकल मुण्डन 'जडूला उतारना' भी कहते हैं । चूड़ा का अर्थ शिखा होता है अर्थात् चूड़ा कर्म वह संस्कार है जिसमें मुण्डन के बाद सिर पर केवल शिखा या चोटी रखी जाती है । यह संस्कार शिशु के जन्म के पहले से तीसरे वर्ष के मध्य किया जाता हैं । धर्मशास्त्रों के अनुसार -

"संस्कार्य व्यक्ति के लिए दीर्घ आयु सौन्दर्य तथा कल्याण की प्राप्ति ही संसकार का प्रमुख प्रयोजन माना जाता था ।"[56]

सुश्रुत का कहना है कि -

"मस्तक के ऊपर की ओर शिरो तथा सन्धि का सन्तिपात है । वही रोमों में अधिपति है । इस अंग को किसी भी प्रकार का आघात लगने पर तत्काल मृत्यु हो सकती है ।"[57] (शरीर स्थान)

इसलिए इस महत्वपूर्ण अंग की सुरक्षा करने के लिए ही इस सर पर चोटी रखने की व्यवस्था की गई थी ।

9 कर्णवेध संस्कार

इसे कनछेदन भी कहते हैं । यह संस्कार शिशु जन्म के तीसरे से पाँचवें वर्ष के मध्य किया जाता हैं । इस संस्कार द्वारा बालक के कानों को किसी अच्छे वैध द्वारा छेदन किया जाता हैं और इस छिद्र में सोने, चाँदी या पीतल की बाली पहना दी जाती हैं । आज के युग में यह संस्कार मुण्डन के साथ सम्पादित किया जाता है इस विषय में सुश्रुत ने लिखा है कि,

"रक्षा भूषण निमित्त बालस्य कर्णो विध्येत् ।"[58]

अर्थात् रोग से रक्षा तथा भूषण या अलंकार के निमित्त बालक के कानों का छेदन करना चाहिए ।

10 उपनयन संस्कार

इसे यज्ञोपवित संस्कार भी कहते हैं । बालक को आचार्य के समीप ले जाकर उसे वेद अध्ययन करने के लिये विद्यार्थी बना देने की क्रिया उपनयन संस्कार है । इस संस्कार के बाद वह बालक ब्रह्मचारी कहलाता है । संस्कारों में उपनयन का सर्वोच्च स्थान हैं ।

"प्राचीन काल में उपनयन शब्द का प्रयोग ब्रह्मचर्य ग्रहण करने के अर्थ में लिया जाता था । किन्तु बाद में इस शब्द का प्रयोग गायत्री मंत्र द्वारा द्वितीय जन्म धारण करने के रूप में लिया जाने लगा और आगे चलकर इस शब्द का प्रयोग अभिभावकों द्वारा बालक को आचार्य के निकट ले जाने के अर्थ में किया जाने लगा । आधुनिक काल में इसकी शिक्षा का अर्थ पूर्णतः लुप्त हो चुका है । आज उपनयन शब्द का प्रयोग एक विशेष संस्कार के अर्थ में किया

जाता है, जो द्विजन्मा के विवाह तक किसी भी समय किया जा सकता है । आज इसे "जनेऊ" कहा जाने लगा है और बालक को केवल यज्ञोपतीत पहनाने की प्रथा मात्र रह गयी है ।"[59]

11 वेदारम्भ संस्कार

गायत्री मंत्र की दीक्षा के साथ चारों वेदों का पठन-पाठन शुरू करने को 'वेदारम्भ संस्कार' कहा जाता हैं । जो दिन उपनयन संस्कार का है वही वेदारम्भ संस्कार का है । यदि किसी कारणवश यह संस्कार न हो पाये तो यह संस्कार उपनयन संस्कार के दूसरे या तीसरे दिन करना चाहिए या फिर एक वर्ष के अंदर किसी भी दिन करना चाहिए ।

12 समावर्तन संस्कार

ब्रह्मचर्य व्रत पालन की समाप्ति पर ब्रह्मचारी आचार्य की आज्ञा लेकर आचार्य को दक्षिणा लेकर उनका आशीर्वाद ग्रहण कर, गृहप्रवेश करने के लिए विद्यालय छोड़ता है तब यह संस्कार होता है । इसे दीक्षान्त संस्कार भी कहा जाता है । समावर्तन के बाद विवाह होने के समय तक ब्रह्मचारी स्नातक कहा जाता है ।

13 विवाह संस्कार

यह समस्त संस्कारों में गौरवशाली एवं महत्वपूर्ण संस्कार माना जाता हैं। यह संस्कार द्वारा व्यक्ति ब्रह्मचर्याश्रम से लौटने पर गृहस्थाश्रम में प्रवेश पाने का अधिकारी समझा जाता है । यहाँ से व्यक्ति का सामाजीकरण होकर उसके

उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्तित्व का प्रारम्भ होता है । इस संस्कार के द्वारा वर-वधु दोनों आजीवन परस्पर एक सूत्र में बंधे रहने की प्रतिज्ञा करते हैं । इसमें यज्ञ देवी की अग्नि के सामने वर को पिता द्वारा कन्या का दान किया जाता हैं ।

14 वानप्रस्थ संस्कार

जीवन के तृतीय भाग में मनुष्य वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता हैं । वह जीविकोपार्जन तथा अन्य सांसारिक कार्यों से विरक्त हो जाता हैं । किन्तु शिखासूत्र संध्योपासन, अग्निहोत्र आदि वैदिक कार्यों का त्याग नहीं करता । इस आश्रम में विधिवत प्रवेश करने को ही वानप्रस्थ आश्रम कहते हैं ।

15 संन्यास

लोभ मोह आदि के आवरण को छोड़कर पक्षपात रहित होकर विरक्त होता हुआ मनुष्य पृथ्वी में परापकारार्थ भ्रमण करने को उद्यत होता है । उस समय यह संस्कार किया जाता है । यह संस्कार व्यक्ति की आयु के चौथे भाग में अर्थात् 70 वर्ष के बाद होता हैं । संन्यास संस्कार के समय शिखा के बाल और यज्ञोपवीत को जलांजलि सहित जल में होम किया जाता हैं ।

16 अंत्येष्टि संस्कार

सोलह संस्कारों में यह अंतिम अंत्येष्टि संस्कार हैं । जो मृत्यु के बाद मृत शरीर का किया जाता है । इस संस्कार में मृतक शरीर को स्नान आदि कराकर, उसे नये वस्त्र में लपेटकर श्मशान ले जाया जाता है और शव को वैदिक मंत्रों के साथ अग्नि को सौंप दिया जाता हैं । इस क्रिया में चिता को

जलाने के लिए अग्नि घर से ही श्मशान को ले जाई जाती है और फिर घर में तीन दिन अग्नि नहीं जलाई जाती हैं । फिर तीसरे दिन अस्थियों का संचय करके उन्हें किसी पवित्र जल में प्रवाहित कर दिया जाता हैं । दाह संस्कार के दशवें या ग्यारहवें दिन मृतक के लिए तर्पण एवं पिण्डदान किया जाता हैं ।

1.5.3 धर्म

'घारयति इति धर्मः' धर्म का अर्थ होता है 'धारण करना ।' अर्थात् धारण करने योग्य । जिसे सबको धारण करना चाहिए । सत्य, क्षमा, विद्या दया, दान, समाज सेवा आदि धारण करने योग्य हैं । धार्मिक ग्रंथ मनुस्मृति में धर्म के दस लक्षणों की विवेचना की गई हैं । जो इस प्रकार है - "धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय (चोरी न करना), पवित्रता, इन्द्रिय-निगृह, बुद्धि, विद्या, सत्य, क्रोध पर नियंत्रण ।"[60]

धर्म व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का आधार है जीवन का शाश्वत सत्य है, जो कुछ श्रेष्ठ है उसकी आदर्श अभिव्यक्ति है । धर्म का तात्पर्य, धारण करने से है, बनाये रखने से है और जिससे सभी बने रहे, सुव्यवस्थित रहे वही धर्म है । हिन्दू धर्म व्यक्ति के श्रेष्ठ विकास में योग देता है, उसको सर्वांगीण विकास में सहायता पहुँचाता है । उसमें मानवीय गुणों को जागृत करता है, उसे परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व के प्रति कर्तव्यों का बोध कराता हैं, उसके सफल समायोजन में योग देता है एवं धार्मिक मर्यादाओं में अर्थ का

उपार्जन और काम का उपभोग करते हुए जीवन के परम लक्ष्य-मोक्ष-प्राप्ति की ओर अग्रसर करता हैं ।

प्रत्येक धर्म का आधार किसी शक्ति पर विश्वास होता है और यह शक्ति मानवशक्ति से अवश्य ही श्रेष्ठ होती है । परंतु केवल विश्वास से ही धर्म संपूर्ण नहीं है । इस विश्वास का एक भावात्मक आधार भी होता है जैसे उस शक्ति के संबंध में भय या उसके दण्ड का भय । साथ ही उस शक्ति के प्रति श्रद्धा, भक्ति, प्रेम भाव भी धर्म का आवश्यक अंग हैं । उस शक्ति के लाभ उठाने के लिए और उसके कोष से बचने के लिए प्रत्येक धर्म में विश्वासों से संबंधित कुछ क्रिया या कर्म होते हैं । इस क्रिया की अभिव्यक्ति पूजा, पाठ, प्रार्थना या आराधना या संस्कार के रूप में होती है । यह धार्मिक क्रियाओं में विभिन्न समाज में विभिन्न सामग्रियों, धार्मिक प्रतीकों, पौराणिक कथाओं आदि का समावेश होता हैं । धर्म को मानना या न मानना स्वयं व्यक्ति के ऊपर निर्भर करता है और यह बात उसके व्यक्तिगत अनुभवों द्वारा प्रभावित होती हैं।

1.5.4 त्यौहार

भारत को त्यौहारों का देश कहा जाता हैं । होली, दिपावली, मकर संक्रांति, नवरात्रि, जन्माष्टमी, राखी, गणेश चतुर्थी, शिवरात्री आदि भारत के सांस्कृतिक त्यौहार हैं । यह त्यौहार धर्म से जुड़े हुए होते हैं । जिनमें देवी-देवताओं की पूजा अर्चना होती हैं, व्रत रखे जाते हैं, मूर्ति स्थापना की जाती है। जैसे 'गणेश चतुर्थी' में गणेश जी की मूर्ति रखकर स्थापना तथा पूजा की जाती

है तो शिवरात्री, नवरात्री, कृष्ण जन्माष्टमी आदि ऐसे त्यौहार है जिनमें व्रत भी रखे जाते हैं । यह त्यौहारों को धर्म से जुड़े होने के कारण इसे धार्मिक त्यौहार भी कहा जाता है । धार्मिक त्यौहारों के अतिरिक्त भारत में राष्ट्रीय त्यौहार भी मनाए जाते हैं जैसे गणतंत्र दिवस, 15 अगस्त, 2 अक्टूबर, शिक्षक दिवस आदि । वास्तव में हर त्यौहार का अपना एक अलग महत्त्व होता है । त्यौहारों में घर परिवार के लोग, पड़ोशी एक दूसरे के घर जाते हैं, मिलते हैं, बधाईयाँ, शुभकामनाएँ एवं आशीर्वाद देते हैं । जिससे पड़ोसी मित्र, रिश्तेदारों में एक सकारात्मक माहौल छा जाता हैं और उनका रिश्ता और भी मजबूत हो जाता है। त्यौहार भारत में राष्ट्रीय एकता को भी बढ़ावा देते हैं । त्यौहार एक सांस्कृतिक धरोहर है । इनका एक अलग ही महत्व हैं जो पूर्व और वर्तमान पीढ़ी को एक दूसरे से बाधे रखता है । अपने समय में हमारे पूर्वजों भी इन त्यौहारों को बड़ी धूम-धाम से मिल-जुल कर मनाते थें ।

1.5.5 खानपान

भारत का इतिहास बहुत पुराना है । वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता गया साथ ही मनुष्य की खानपान की सामग्रियों में भी विकास होता गया और आज खाने-पीने की इतनी चीजें प्रचलित है कि इनके नामों की गणना करना भी मुश्किल कार्य है। भारतीय योजना की अपनी एक विशिष्टता है । अपनी इसी विशिष्टता के कारण ही

आज इंडिया के सभी बड़े देशों में भारतीय भोजनालय देखने को मिलते है जो काफी लोकप्रिय भी है ।

भारत विभिन्न राज्यों का समूह है । यहाँ विभिन्न राज्यों के अनेक प्रकार के विभिन्न पारंपरिक व्यंजन है । जैसे राजस्थान में केर, सांगरी, दालबाटी चुरमा, गुजरात में ढोकला, खमण, महाराष्ट्र में पूरण-पोली, छत्तीसगढ़ में फरा, बिहार में लौंगलता, लिट्टी-चोखा, दिल्ली में चाट पंजाब में मक्के दी रोटी सरसों का शाक आदि । भारत में भौगोलिक जलवायु, स्थान, मिट्टी आदि के अनुसार भी सांस्कृतिक खानपान में अंतर देखने को मिलता है । दक्षिण भारत में आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु कर्णाटक राज्यों में चावल का उत्पादन ज्यादा मात्रा में होता है । खासकर के आंध्र प्रदेश में "ऐतिहासिक रूप से 'आंध्रप्रदेश' को भारत का धान का कटोरा भी कहा जाता है । यहाँ की फसल 77 प्रतिशत से ज्यादा हिस्सा चावल का है ।"[61] इसलिए यहाँ का पारंपरिक भोजन चावल तथा चावल से बने व्यंजन हैं जैसे स्टीम राईस, इटली, डोसा आदि । समुद्र तट होने के कारण यहाँ के लोग चावल के अतिरिक्त मास-मछली खाना भी पसंद करते हैं ।

भारत में पश्चात भोजन का प्रभाव भी लोकप्रिय हुआ है । पाश्चात संस्कृति के प्रभाव के कारण यहाँ के खानपान में भी बदलाव आया है । आधुनिक युग की युवा पीढ़ी पिजा, बर्गर, चाऊमीन आदि जैसी पश्चिमी भोजन पर ज्यादा आकर्षित हो रही है । आज शादी-विवाह, जन्मदिन, त्यौहार आदि प्रसंगों में लोग भारतीय भोजन के साथ-साथ पश्चिमी व्यंजन खाना पसंद करते

हैं । परंतु शहरी नगरों में पाश्चात्य व्यंजनों का प्रभाव अधिक देखने को मिलता है जबकि गाँवों में कम । गाँव के लोग आज भी शादी-विवाह, तीज, त्यौहार, पर्व आदि प्रसंगों पर पारंपरिक भोजन बनाना पसंद करते हैं ।

1.5.6 वेशभूषा

वेशभूषा का भी सांस्कृतिक तथा सभ्यता से घनिष्ठ संबंध है । भारत विभिन्न राज्यों का देश हैं, विभिन्न राज्यों की अलग-अलग धर्म, जाति, भाषा स्थान, नस्ल जलवायु आदि के आधार पर यहाँ के लोगों की पारंपरिक वेशभूषा में भी अंतर दिखाई देता है जैसे बिहारी लोगों की पारंपरिक पोशाक में पुरुषों के लिए धोती, मिरजाई या कुर्ता और महिलाओं के लिए साड़ी शामिल है । उसी प्रकार राजस्थान में पुरूष धोती, कुर्ता पारंपरिक चुड़ीदार पायजामा, पगड़ी पहनते हैं तो महिलाएँ लहँगा-चोली । स्थानीय उद्योग क्षेत्र के आधार पर भी भारत के कई राज्यों में विभिन्नता है । जैसे कर्णाटक में रेशम का उद्योग होता है । कर्णाटक ते काचीपुरम या कांजीपरम सिल्लस पूरे भारत में प्रसिद्ध है और इसलिए कर्णाटक में महिलाओं का पारंपरिक पोशाक रेशम से बनी साड़ी है और पुरुषों के लिए पारंपरिक पोशाक लूंगी । जलवायु के आधार भी वेशभूषा में विभिन्नता देखने को मिलती है । हिमाचल के लोगों का पारंपरिक पोशाक वहाँ के अधिकतर शीत जलवायु के अनुकूल है । वहाँ के लोग ऊनी कपड़े पहनते हैं जैसे स्कार्फ और शॉल महिलाओं के साथ सर्वव्यापी है जबकि पुरूषों को विभिन्न प्रकार के कुर्तों और ठेठ हिमाचल की टोपी में देखा जा सकता है । समय के

परिवर्तन के साथ-साथ भारत में पश्चिमी वस्त्रों का प्रभाव भी लोकप्रिय हुआ है जैसे महिलाओं में मेक्सी, टोप, गाउन, फ्रोक, स्कट और पुरूषों में जीन्स, लोअर, टी-शर्ट, शर्ट जैकेट, ब्लेजर, सूट आदि पहनना पसंद करते हैं ।

भारत में वेशभूषा के संबंध में अपनी एक निजी परंपरा है जो बदलाव के बाद भी टूटी नहीं है, आज भी महिलाएँ एवं पुरूष शादी-विवाह, पूजा-पाठ, त्यौहार पर्व जैसे धार्मिक प्रसंगों में पारंपरिक वेशभूषा धारण करते हैं । साड़ी महिलाओं में पहने जाने वाला अत्यधिक लोक प्रचलित पारंपरिक वस्त्र है जिसका प्रयोग आज भी कई महिलाएँ न केवल धार्मिक प्रसंगों में बल्कि रोजमर्रा की जिन्दगी में भी करती है ।

1.5.7 भाषा

भाषा मनुष्य द्वारा कमाया हुआ एक महत्वपूर्ण गुण एवं अनमोल धन है । भाषा के अभाव में मानव एक पशु के समान है । भाषा के माध्यम से ही लोग अपने विचारों की अभिव्यक्ति करते हैं । आधुनिक युग में भाषा का काफी विकास हो चुका है । भाषा के माध्यम से ही आज मनुष्य विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति करता आ रहा है । "मानव के उद्भाव और विकास के साथ ही भाषा को मानव ने ग्रहण कर लिया । वर्तमान परिप्रेक्ष्य में आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय और वैज्ञानिक सभी क्षेत्रों में मानव अपने विचारों भावों और ज्ञान के आदान-प्रदान में सक्षम हैं, जिसका सारा श्रेय भाषा को ही जाता है ।" [62]

भाषा के माध्यम से ही धर्म, सांस्कृतिक विचार तथा भावों को सुरक्षित रखा जाता है । समाज और मानव से अलग होकर भाषा का न कोइ महत्व है और न ही अस्तित्व । क्योंकि मनुष्य ही अपने समाज में भाषा का प्रयोग करता है । भाषा की विविधता सभी क्षेत्रों में पायी जाती है । इसलिए कुछ भाषाएँ व्याकरण और शब्दावली की दृष्टि से अधिक समृद्ध होती है और कुछ भाषाएँ कम समृद्ध । कुछ भाषाएँ अप्रचलित होने के कारण उनकी अपनी कोई लिपि नहीं है । जिसकी वजह से उसका कोई लिखित रूप भी शुरू नहीं हुआ है । आदिवासियों की भाषाएँ इस श्रेणी के अंतर्गत होती है ।

1.6 सांस्कृतिक संचेतना के सामाजिक मूल्य

संस्कृति हमें जीवन जीने का तरीका सिखाती है । व्यक्ति संस्कृति का निर्माता है और साथ ही संस्कृति मनुष्य को मनुष्य बनाती है । व्यक्ति जन्म से जैविकीय होता है किन्तु जन्म के बाद से ही वह सर्वप्रथम परिवार, पड़ोस, मित्र, समूह तथा समाज, सामाजिक संस्थाओं द्वारा संस्कृति के गुण सीखता है।

प्रत्येक मानव समाज में संस्कृति पाई जाती है । संस्कृति के अभाव में समाज का अस्तित्व संभव ही नहीं है ।

“संस्कृति को मुनीश्री समाज की आचार संहिता मानते हैं क्योंकि बिना संस्कृति के समाज-रचना की कल्पना नहीं की जा सकती । वह समाज को मार्गदर्शन कराती है और अयुक्त स्वैच्छागामिता से रोकती है । साथ ही विशिष्ट संपत्तियों से उसे विभूषित करती है । कहना चाहिए कि संस्कृति समाज तथा

व्यक्ति को सुधारती है, सँवारती है और उज्जवलता प्रदान करती है। आत्मधर्म का जागरण संस्कृति के पावन प्रभात में होता है । युग-युग में जिन आदर्श, आचारवान्, महापुरुषों ने गहन-गंभीर ज्ञानसागर के मन्थन से जिन शाश्वत मूल्यवान् मणिरत्नों का आविर्भाव किया, उन्हीं से संस्कृति कोष को समृद्धि मिली वे सांस्कृतिक मणिरत्न समाज के आचार में, व्यवहार में इतने तद्रूप हो गये कि उन्हें अलग से ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं रह गई।" [63]

मानव समाज में संस्कृति की अहम् भूमिका रही है । संस्कृति ही समाज में मानव-दृष्टिकोण को व्यापक बनाकर उनमें सामूहिक भावना उत्पन्न करने का कार्य करती है जिससे व्यक्ति सहयोग के आधार पर एक-दूसरे से जुड़े और अपने दृष्टिकोण को उदार बनाकर दूसरे व्यक्ति या समूह के लिए सोचे । संस्कृति व्यक्ति और व्यक्ति की सामाजिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने में सहायक होती है । "संस्कृति का प्रभाव मानव जीवन के सभी पहलुओं पर पड़ता है । संस्कृति मानव के गुणात्मक एवं परिणात्मक अस्तित्व में वृद्धि करती है । संस्कृति ने ही मानव समाज को असभ्य एवं बर्बर समाज की चारदिवारी से निकालकर सभ्य एवं सौम्य समाज की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया है जिससे मानव समाज में निश्चित एवं स्पष्ट भिन्नता देखने को मिलती है । मानव के अध्ययन के लिये संस्कृति का अध्ययन आवश्यक होता है । समाज के लिए संस्कृति सबसे महत्वपूर्ण साधन है ।" [64]

प्रत्येक समाज की अपनी संस्कृति होती है, संस्कृति के कुछ गुण होते हैं जो उस समाज को अन्य समाज से अलग करते हैं, जैसे विवाह संस्था, खान-पान, रहन-सहन, तौर-तरीके, आचार-विचार, परिवार संबंधी व्यवहार आदि में विभिन्नता पाई जाती हैं । जैसे भारत में विवाह विच्छेद बुरा माना जाता है जबकि अमेरिका में ऐसा नहीं है। संस्कृति में भिन्नता इसलिए पाई जाती है, क्योंकि जो व्यक्ति का जिस सांस्कृतिक वातावरण में पालन-पोषण होता है, विकास होता है, उसके लिए वही संस्कृति मूल्यवान होती है ।

संस्कृति के अंतर्गत प्रथाएँ, परंपराएँ, मान्यताएँ, रीति-रिवाज, व्यवहार, सोच-विचार, विश्वास, कला, धर्म, साहित्य, आदर्श आदि का समावेश होता हैं । यह सभी संस्कृति के विभिन्न अंग या पक्ष है जिनसे संस्कृति का निर्माण होता है । इन सभी अंगों का अपना एक महत्व होता है । संस्कृति के विभिन्न अंगों का संबंध मानव के आंतरिक जीवन से होता है । यह सांस्कृतिक अंग समाज में एकता बनाए रकने में, सामाजिक नियंत्रण बनाए रखने में और समाज में मानव व्यवहारों पर अंकुश रकने में अपनी अहम् भूमिका निभाते हैं । जैसे प्रथाओं, परंपराओं को ले । इन प्रथा-परंपराओं का मानवजीवन में बड़ा महत्त्व हैं । इनमें व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक अपना संपूर्ण जीवन निर्वाह करता है । प्रथाओं, परंपराओं का पालन कर व्यक्ति आत्म एवं विश्वास संबंधी आदर्शों को सिद्ध करता है और समाज में सामाजिक मूल्यों को स्थापित करता है। “मूल्य सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों से संबंधित होते हैं उदाहरणार्थ - परिवार के मूल्य अलग है तो राष्ट्र के स्तर पर वे अलग प्रकार के होंगे । इस प्रकार

राजनीति, धर्म, आर्थिक जीवन सामाजिक जीवन से संबंधित विभिन्न प्रकार के मूल्य होते हैं । मूल्यों का एक बोधात्मक तत्व होता है - जो यह निर्धारित करता है कि क्या उचित है, क्या अनुचित ? क्या करना चाहिए, क्या नहीं । इस दृष्टि से मूल्यों का संबंध आदर्शों व नियमों से होता है ।"[65]

"सामाजिक मूल्य वे मानक हैं जिनके आधार पर किसी व्यक्ति की भावनाओं व्यवहारों, गुणों, लक्षणों एवं साधनों आदि को उचित अथवा बुरा माना जा सकता है ।[66]

मूल्य सामाजिक नियंत्रण में सहायक होते हैं, सामाजिक मूल्य वे विचार, आदर्श, सिद्धान्त या उद्दश्य है जिन्हें समाज के अधिकांश सदस्य अपने अस्तित्व के लिए मानते हैं, जिनके लिए वे किसी भी प्रकार का बलिदान देने के लिए तत्पर रहते हैं । सामाजिक मूल्य समाज के सदस्यों की प्रवृत्तियों और मनोवृत्तियों को निर्धारण करते हैं । सामाजिक मूल्यों का संबंध रीति, परंपराएँ, प्रथाओं, मान्यताओं, विचारों आदि से सांस्कृतिक अंगों से होता है ।

उदाहरण स्वरूप प्रथाओं, परंपराओं को लें । मनुष्य का जन्म से लेकर मृत्यु तक का जीवन प्रथाओं एवं परंपराओं में ही घिरा रहता है । जैसे नामकरण, मुंडन, कर्णविच्छेद, विवाह आदि संस्कारों की प्रथाएँ । इन प्रथाओं के पीछे कोई तर्क कार्य नहीं करता है । व्यक्ति बिना कुछ सोचे-समझे संस्कृति के अनुसार व्यवहार करता रहता है और यही व्यवहार एक-पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को

हस्तान्तर होती है । यह हस्तांतर की क्रिया पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती है । इस प्रकार मानव-जीवन मूल्यों का विकास करती है।

प्रथाओं के पीछे पिछली पीढ़ी का अनुभव तथा ज्ञान का समावेश रहता है जिससे सीखने की समझने की प्रक्रिया सरल हो जाती है और व्यक्ति को नवीन प्रकार से कुछ सीखना नहीं पड़ता, ना ही मानसिक परिश्रम करना पड़ता है । प्रथाओं का पालन करने से व्यक्ति की समाज में निंदा नहीं होती । जैसे हिन्दू समाज में कुछ प्रथाएँ परंपरागत रूप में पाई जाती है । कोई इस प्रथा का उल्लंघन नहीं करता । प्रथाओं का उल्लंघन करने पर व्यक्ति सामाजिक मूल्यों की निंदा होती है । समाज में उसका बहिष्कार होता है ।

गिन्सबर्ग लिखते हैं - "प्रथाएँ सामाजिक जीवन में मनुष्यों को मार्ग दिखाने का काम करती है । चूँकि प्रथाएँ समाज में प्रारंभ से चली आ रही होती है । इसलिए प्रत्येक व्यक्ति इसका श्रद्धापूर्वक पालन करता है ।"[67]

अतः मुकजी ने सही लिखा है -

"सामाजिक मूल्य सामाजिक नियंत्रण में सहायक होते हैं । मूल्यों में आदेश सूचक और अनिवार्यता के तत्व होते हैं जिन्हें समाज में प्रचलित जनरीतियों, प्रथाओं और नैतिक नियमों के कारण बल मिलता रहता है । परिणामस्वरूप समाज द्वारा विपरीत आचरण करने वालों को दण्ड एवं समाज के अनुरूप आचरण करने वालों को पुरस्कार की व्यवस्था की जाती है ।"[68]

1.7 सांस्कृतिक संचेतना के धार्मिक मूल्य

धर्म प्राचीन समय से लेकर आधुनिक समय तक मनुष्य के साथ रहा है । भारतीय समाज धर्मप्रधान समाज कहलाता रहा है और धर्म की प्रत्येक्ष क्षेत्र में महत्ता रही है । धर्म व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का आधार है, जो कुछ श्रेष्ठ है उसकी आदर्श अभिव्यक्ति है । धर्म का अर्थ धारण करने से है, बनाये रखने से है और जिससे सभी बने रहे, सुव्यवस्थित रहे वही धर्म है । संस्कृति की श्रेष्ठता में धर्म का स्थान सबसे ऊँचा है । धर्म को धारण करने से व्यक्ति आत्मिक रूप से सबल, दयालु, सदाचारी, सहृदयी, परोपकारी, सहनशील, कर्तव्यपरायण, दृढसंकल्पी आदि होता है । इन गुणों से मनुष्य सुसंस्कृत बनता है ।

डॉ. ईन्द्रदेव ने लिखा है - "धर्म के अंतर्गत नैतिक नियम, कानून, रीति-रिवाज वैज्ञानिक नियम इत्यादि बहुत सी धारणाएँ आ जाती है ।"[69]

धर्म संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है । धर्म के दो रूप है, लौकिक और परलौकिक। लौकिक धर्म के अंतर्गत सत्य, ईमानदारी, अहिंसा, आदि का समावेश होता है जो सांसारिक जीवन को संतुलित करते हैं । पारलौकिक धर्म के अंतर्गत ईश्वर की प्राप्ति, मोक्ष आदि का समावेश होता है । ऊर्जा प्रार्थना और उपासना, यज्ञ, दान, तप आदि के द्वारा पारलौकिक धर्म का निर्वहन किया जाता है ।

आज मानव समाज में विशेष रूप से हिन्दू धर्म में एक अलौकिक सर्वशक्तिमान ईश्वर की सत्ता रही है । आज आधुनिक युग में भी मनुष्य, भय,

श्रद्धा, शक्ति आदि के माध्यम से ईश्वर से जुड़ा हुआ है । जैसे - पूजा प्रार्थना, पौराणिक कथाएँ, धार्मिक प्रतीक, धार्मिक क्रियाएँ, धार्मिक तीज-त्यौहार, धार्मिक-परंपराएँ, धार्मिक विश्वास आदि। इन धर्म संबंधित कार्यों का पालन करके ही मनुष्य समाज में धार्मिक मूल्यों को स्थापित करता है। धार्मिक मूल्यों का अर्थ धर्म संबंधित मूल्यों से होता है । धार्मिक मूल्यों के अंतर्गत सत्य बोलना, दूसरों के लिए कष्ट सहना, कमजोर व्यक्ति की मदद करना, अंदर बाहर से पवित्र रहना, दान करना, तपस्या, क्रोध न करना, धर्म से संबंधित व्यवहार करना, क्षमा करना, यज्ञ-तप करना, श्राद्ध कर्म, सेवा भाव, श्रम करना आदि मूल्यों का समावेश होता है।

धर्म का पालन करना किसी भी व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है, फिर वह चाहे किसी भी धर्म का पालन क्यों न करे । किसी भी धर्म को अपनाना उसका पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का स्वस्थ धार्मिक मूल्य है । जिसे हम धार्मिक सहिष्णुता भी कह सकते हैं। भारतीय संस्कृति में हिन्दू धर्म व्यक्ति के विकास में योग देता है । उसके सर्वांगीण विकास में सहायता पहुँचाता है । उसमें मानव गुणों को जागृत करता है । उसमें पारिवारिक, समाज, राष्ट्र और विश्व के प्रति अपने कर्तव्यों का बोध कराता है ।

व्यक्ति एवं समाज के कल्याण में धर्म की विशेष भूमिका रही है । धर्म मनुष्यों को सही मार्ग दिखाता है । धर्म मनुष्यों को मानवीय मूल्यों पर चलने के लिए प्रेरित करता है । धर्म का लक्ष्य कर्म को नियंत्रण करना है । इसके

नियंत्रण से ही हमारी इच्छाओं में एक रचना एवं अनुपात है । यह हमारे जीवन में संतुलन बनाये रखता है । जब यह संतुलन बिगड़ जाता है तो मानव का पतन निश्चित हो जाता है । इसलिए समाज की व्यवस्था को भी आघात पहुँचता है । उदाहरण स्वरूप - रामायण में कौशल्या धर्म के नियंत्रण में है, जबकि कैकेयी का काम अधर्म के नियंत्रण में । परंतु अंत में दशरथ को कौशल्या के पास ही जाना पड़ता है । इस प्रकार - "धर्म, अर्थ व काम दोनों को नियंत्रण में रखता है और मनुष्य को मोक्ष प्राप्ति का मार्ग दिखाता है ।"[69] अत: धर्म मनुष्य को मानवीय मूल्यों पर चलने के लिए प्रेरित करता है ।

संदर्भ ग्रंथ सूचि

1. राजेश रानी - हिन्दी उपन्यास में सामाजित चेतना, पृ.1
2. शुक्ल, सं.रामशंकर - भाषा शब्दकोश, पृ.1812
3. प्रसाद, कालिका - बृहद हिन्दी कोश, पृ.1201
4. संपादक - आर.एस.मेक ज्योर्ज– ध ऑक्सफोर्ड हिन्दी-इंग्लिश शब्दकोश, पृ. 986
5. कृष्णानंद - संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर, पृ.2014
6. डॉ. सम्पूर्णनंद - समाजवाद, पृ.1
7. दवे, डॉ. गीता - पंत के काव्य में समाज एवं संस्कृति, पृ.389
8. आहूजा, राम - समाजशास्त्र, विवेचना और परिप्रेक्ष्य, पृ.86, 87
9. नागर, डॉ. विमल शंकर - हिन्दी के आंचलिक उपन्यासः सामाजिक सांस्कृतिक, पृ.5
10. आहूजा, राम-समाजशास्त्र - विवेचना और परिप्रेक्ष्य, पृ.87
11. डॉ. एम.एम.लावानिया - समाजशास्त्र - पृ.38
12. आहूजा, राम-समाजशास्त्र - विवेचना और परिप्रेक्ष्य, पृ.66
13. शर्मा, वीरेन्द्र प्रकाश - समाजशास्त्र का परिचय, पृ.55
14. चतुर्वेदी, सं.द्वारिकाप्रसाद - संस्कृत शब्दार्थ कैस्तुभ, पृ.1148
15. डॉ.एन.पी.कुट्टन पिल्ले, पौराणिक सन्दर्भ कोश, पृ.1175
16. डॉ. हरदेव बाहरी - हिन्दी शब्दकोश, पृ.794
17. वर्मा, श्री रामचन्द्र - प्रामाणिक हिन्दी कोश, पृ.1256

18. शुक्ल, सं.डॉ. रमाशंकर - भाषा शब्दकोश, पृ.1780

19. अग्रवाल, डॉ. वासुदेव शरण - कला और संस्कृति, पृ.3

20. द्विवेदी, डॉ. हजारी प्रसाद - अशोक के फूल, निबंध संग्रह, पृ.60

21. मिश्र, डॉ. रामजी - धर्म और राजनीति, पृ.83

22. दिनकर, रामधारीसिंह - संस्कृति चार अध्याय, पृ.5

23. विद्या भूषण - समाजशास्त्र के सिद्धान्त, पृ.730

24. आहूजा, डॉ. राम - समाजशास्त्र विवेचना और परिप्रेक्ष्य, पृ.247

25. विद्याभूषण - समाजशास्त्र के सिद्धान्त, पृ.729

26. विद्याभूषण - समाजशास्त्र के सिद्धान्त, पृ.728

27. विद्याभूषण - समाजशास्त्र के सिद्धान्त, पृ.728

28. श्री नवलजी - नालदा विशाल शब्दसागर, पृ.388

29. जोसी कुमारी सिद्धि - अमृतलाल नागर के उपन्यासों में चेतना, पृ.5

30. सिंह, डॉ. लाल साहब - हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक चेतना, पृ.1

31. वर्मा, रामचन्द्र - मानक हिन्दी कोश, खंड-2, पृ.274

32. गोयल, डॉ. सुनील - मूलभूत समाजशास्त्रीय अवधारणाएँ, पृ.271

33. पाण्डेय, डॉ. गणेश - सैद्धांतिक समाजशास्त्र, पृ.62

34. गुप्ता, डॉ. मोतीलाल - भारत में समाज, पृ.347

35. मिश्र, डॉ. पी.डी. - सामाजिक संबंधों के मूलतत्व, पृ.444

36. मुकर्जी, रवीन्द्रनाथ - सामाजिक मानवशास्त्र की रूपरेखा, पृ.150

37. पाण्डेय, डॉ. गणेश - सैद्धांतिक समाजशास्त्र, पृ.343

38. मुकर्जी, रवीन्द्रनाथ - सामाजिक संरचना और सामाजिक परिवर्तन, पृ.174

39. डॉ. नरेन्द्र - समाज और राजनीति, पृ.38

40. पाण्डेय, डॉ. गणेश - सैद्धांतिक समाजशास्त्र, पृ.343

41. पाण्डेय, डॉ. गणेश - सैद्धांतिक समाजशास्त्र, पृ.343

42. ओझा, डॉ. श्रीकृष्ण - भारतीय संस्कृति के मूल तत्व, पृ.69

43. उपाध्याय, डॉ. रामजी - भारतीय संस्कृति का उत्थान, पृ.52

44. ओझा, डॉ. श्रीकृष्ण - भारतीय संस्कृति के मूलतत्व, पृ.86

45. उपाध्याय, डॉ. रामजी - भारतीय संस्कृति, पृ.57

46. उपाध्याय, डॉ. रामजी - भारतीय संस्कृति, पृ.59

47. भट्ट गौरीशंकर - भारतीय संस्कृतिः एक समाजशास्त्रीय समीक्षा, पृ.142

48. प्रो.एम.एस.चाँद - भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृ.56

49. खण्डित, सं. डॉ. रामेश्वर भट्ट - मनुस्मृति, पृ.35

50. बाबू गुलाबराय - भारतीय संस्कृति, पृ.131

51. ओझा, डॉ. श्रीकृष्ण - भारतीय संस्कृति के मूलतत्व, पृ.105

52. ओझा, डॉ. श्रीकृष्ण - भारतीय संस्कृति के मूलतत्व, पृ.106

53. बाबू गुलाबराय - भारतीय संस्कृति, पृ.133

54. बाबू गुलाबराय - भारतीय संस्कृति, पृ.133

55. बाबू गुलाबराय - भारतीय संस्कृति, पृ.133

56. ओझा, डॉ. श्रीकृष्ण - भारतीय संस्कृति के मूलतत्व, पृ.110

57. ओझा, डॉ. श्रीकृष्ण - भारतीय संस्कृति के मूलतत्व, पृ.110

58. ओझा, डॉ. श्रीकृष्ण - भारतीय संस्कृति के मूलतत्व, पृ.111

59. ओझा, डॉ. श्रीकृष्ण - भारतीय संस्कृति के मूलतत्व, पृ.112

60. गुप्ता, मोतीलाल, भारत में समाज, पृ.72

61. https://bit.by/ap-wiki

62. वाजपेय, कुसुम- भारतीय संस्कृति, पृ.72

63. बाबू गुलाबराय - भारतीय संस्कृति, पृ.5

64. पाण्डेय, डॉ. गणेश - सैद्धांतिक समाजशास्त्र, पृ.64

65. शर्मा, वीरेन्द्र प्रकाश - सामाजिक विचारजक, पृ.243

66. शर्मा, वीरेन्द्र प्रकाश - सामाजिक विचारक, पृ.24

67. पाण्डेय, डॉ. गणेश - सैद्धांतिक समाजशास्त्र, पृ.343

68. शर्मा, वीरेन्द्र प्रकाश - सामाजिक विचारक, पृ.214

69. राजेश रानी - हिन्दी उपन्यास में सामाजित चेतना, पृ.79